International Journal of Hindi Research
www.hindijournal.com
ISSN: 2455-2232
Received: 18-08-2025, Accepted: 17-09-2025, Published: 03-10-2025
Volume 11, Issue 4, 2025, Page No. 1-2

भारतीय संस्कृति में तडपता समाज

भुवनेश कदं वि
सहायक प्राध्यापक, हिन्दी मानविक विभाग, क्रुपनिधि डिग्री कालेज, बेन्गलूरु, कर्नाटक, भारत

सारांश
भारतीय संस्कृति वैज्ञानिक आधारों पर खडी हुई है। भारतीय तत्व–विज्ञानियों ने सामाजिक क्षेत्र में बहुत खोज–बीन करके ऐसे नियम निर्धारित किए थे, जो प्रचुर फल देनेवाले हैं और आज भी जिनसे समग्र भारतीय जनता इसका लाभ उठा रही है। हमारे शास्त्रों में आचार को परम धर्म कहा गया है। भारतीय तत्ववेत्ता यह मानते हैं कि जो सिध्दांत अथवा आचार आचरण में नहीं आ सकते, अर्थात्वे उपयोगी नहीं हैं और जो धर्म व्यवहार में नहीं आता, जिससे हमारा दैनिक जीवन और समस्याएँ हल नहीं होतीं, जीवन सुख–शांतिमय नहीं बनता, हम उसे 'धर्म' नहीं कह सकते। हमारे संस्कृति में धर्म के अंतर्गत उन सिध्दांतों को स्थान दिया गया है, जिनसे हमारा नैतिक और आध्यात्मिक ही नहीं, वरन् सामाजिक जीवन भी उन्नत बनता है।

मूल शब्दः संस्कृति, परंपरा, धर्माचरण, मनुस्मृति, राजनैतिक दुर्व्यवहार, प्रतिबंध, सुख–शांतिमय ।

वर्तमान युग संक्रांति और संघर्ष का युग है। यदि हम भारतीय आचार परंपरा को बचाना चाहते हैं, तो हमें अपनी संस्कृति में घुसे हुए सामाजिक विषमताओं को दूर कर परिष्कृत परंपरा को ग्रहण करना होगा।

भारतीय संस्कृति का आधार मैं 'समाज' को मानता हूँ। क्यों कि, भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ठता उस देश की सामाजिक परिस्थिति पर निर्भर करती है, ऐसी उत्कृष्ठता आज संस्कृति के तले तडपते हुए हम देख सकते हैं। समाज आज कनफ्यूजिया रह गया है कि संस्कृति का अंग समाज है या समाज संस्कृति का निर्माण कर रहा है? इसका हल हमें भारतीय संस्कृति और समाज के भीतर ही ढूँडना उचित होगा, यही मेरा प्रयास है।

वर्णाश्रम व्यवस्था: वेदों में वर्ण व्यवस्था का विधान रखा गया है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णों में संपूर्ण समाज विभक्त कर दिया गया था। चारों वर्णों का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अपना निर्धारित कार्य मिल बाँट कर पूरी कुशलता से संपन्न करे। यदि एक व्यक्ति एक प्रकार का कार्य पूरा मन लगाकर करता है, तो उसमें कुशलता और विशेषज्ञता मिल जाती है बार–बार कार्य को बदलते रहने से कुछ भी लाभ नहीं होता, न काम ही अच्छा बनता है।

कालांतर में यह वर्ण व्यवस्था कठोर बन गई और जन्म से ही वर्ण का निर्णय होने लगा, जो उचित नहीं था। जिसके जैसे गुण–कर्म न हों, उन्हें उस वर्ण में शामिल नहीं करना चाहिए। पुराणों में भी जाति बदलने का उल्लेख़ मिलता है। जैसे विश्वामित्र जन्म से क्षत्रिय थे, पर अपने विद्या, बुध्दि, उच्च सांस्कृतिक वैभव और ज्ञान साधना के बल से ब्राह्मण बने थे। मनुस्मृति में कहा गया है कि–

विप्राणाम ज्ञान तो ज्येष्ठम क्षत्रियाणाम् तुवीर्यतः
वैश्यानाम् धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः ।

मनुस्मृति, अध्याय–2:155

(ब्राह्मण को अपनी ज्येष्ठता या बडप्पन ज्ञान से सिध्द करना होता है, क्षत्रियों को वीरता के आधार पर ज्येष्ठता दिखानी होती है, वैश्यों की धनधान्य या संपत्ति के आधार पर श्रेष्ठता दिखती है, किंतु शूद्र तो जन्म से ही ज्येष्ठ होते हैं, बडप्पन वाले होते हैं। अब यह बात भी तो मनुस्मृति में ही कही गयी है। मनुवादीदृ मनुवादी कहकर अच्छे विचारों को भी अग्राह्य कर देना बुध्दिमता नहीं है। "सार–सार को गहि रहे, थोथा दे उडाय" की उक्ति के अनुसार देश काल एवं परिस्थिति के अनुसार मनुस्मृति के कलुषित विचारों को त्याज्य मानना चाहिए और उसके अच्छे विचारों को ग्रहण करना चाहिए। मुझे तो इसमें कोई हानि नहीं दिखती।)

अतः वर्ण व्यस्था की संकीर्णता छोड देने योग्य है। गुण, कर्म और स्वभाव के अनुसार ही वर्ण का निर्णय होना चाहिए।

चार आश्रम व्यवस्था: भारतीय संस्कृति नेजीवन के हरक्षेत्र पर गंभीरता से विचार किया है। संपूर्ण जीवन को सौ वर्षों का मानकर 25–25 वर्षों के चार भाग बना दिए हैं। प्रथम 25 वर्ष शरीर, मन, बुध्दि के विकास के लिए रखे गए हैं। इस आश्रम का नाम ब्रह्मचर्य है। इन वर्षों में युवक या युवती को संयमी जीवन बिताकर आने वाले सांसारिक जीवन के उपयुक्त शक्ति संचय करना पडता था। वह मूलतः एक विद्यार्थी ही होता था, जिसका कार्य प्रधान रूप से शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियाँ प्राप्त करना था। दूसरा 25 से 50 वर्ष की आयु गृहस्थ आश्रम के लिए है। पति–पत्नी जीवन व्यतीत करते हुए पूरी जिम्मेदारी से अपने नागरिक कर्तव्यों का पालन करते थे। परिवार के प्रति अपनी जिम्मेदारी को पूरी करते थे। अपने व्यवसाय में दिलचस्पी लेकर आनंदमय जीवन व्यतीत करते थे। धर्माचरण द्वारा गृहस्थ जीवन के सुख प्राप्त करते थे। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष आदि का सुख भोग करने का यह विधान है। 50 से 75 वर्ष की आयु में गृहस्थ भार से मुक्त होकर जन–सेवा का विधान है, इसे वानप्रस्थ कहा गया है। गृहस्थ जीवन की जिम्मेदारियों से मुक्ति पाना मनुष्य की मानसिक शांति के लिए परम उपयोगी है। 75 साल के बाद पूर्ण परिपक्व व्यक्ति ही घर से बाहर सन्यासी के रूप में निकल कर जनता के हित के लिए नाना कार्य कर सकता था। चिकित्सा, धर्म–प्रचार और पथ दर्शन का कार्य इन योग्यतम सन्यासियों के हाथ में ही रहता था। समाज उन्नति की दिशा में आगे बढता था।

आश्रम परिवर्तन का तात्पर्य उनके मन में धीरे–धीरे मानसिक परिपक्वता आती थी और अगला आश्रम आसान बनता जाता था। चुनाव और सोचने के लिए भी पर्याप्त अवकाश प्राप्त हो जाता था। आदर्श मार्गदर्शन का रूप हमारे इन वर्णाश्रमों में रखा गया था, आज इस व्यवस्था में गडबडी आ गई है। समाज उदारीकरण एवं भूमंडलीकरण के प्रभाव से शापग्रस्त नज़र आता है। सभी की दृष्टि व्यावहारिक होती जा रही है। आज के कुछ सन्यासी सामाजिक विषमताओं के एजेंट माने जाते हैं, जो इस व्यवस्था से

समाज दोखा खा रहा है। इससे अच्छा कि वे अपनी ज़िन्दगी अपने इच्छानुसार बिताएँ। क्यों कि, किसी के पास उतना समय भी नहीं है और सुनने के कान भी। इस रूढीग्रस्त संप्रदाय से तो आधुनिकता अपनी मुँह मोड चुकी है ताकि इस धोखेबाजी को और कितना सहे?

खान–पान: भारतीय संस्कृति यह मानती है कि " आहार शुध्दो सत्वशुध्दिः।" अर्थात् भोजन की शुध्दि होने पर मानव का अंतरात्मा शुध्द होता है। "अन्मय हि सौम्य मनः।" अर्थात हे सौम्य! अन्न से ही मन बनता है। जैसा अन्न खाया जाता है मन, बुध्दि, भावना, विचार, कल्पना इत्यादि वैसा ही हो जाता है

जाति–पाँति और ऊँच–नीच: कुछ व्यक्ति यह मानते हैं कि ऊँच–नीच का भाव हिन्दू धर्म की उपज है, यह असत्य है। जाति–पाँति काम की बाँट की है। जो व्यक्ति अपनी जीविका उपार्जन के लिए जैसा पेशा या व्यवसाय चुन ले, वह उसी वर्ग विशेष में सम्मिलित हो जाए। प्राचीन काल में हमारे यहाँ योग्यता ही ऊँचाई का माप दंड था। पर समय का बीतने के बाद समाज की बदलती कुटिल नीति ने सबको आपस से मिलने पर प्रतिबंध लगा दिया।

छुआ–छूत और ऊँच–नीच की भावनाएँ बुरी हैं, समाज की उन्नति में बाधक हैं। वास्तव में गुण, योग्यता, सच्चाई, ईमानदारी, बुध्दि आदि से जाति की पहचान होनी चाहिए, न कि जन्म से। समाज में काम न कोई ऊँचा है, न नीचा। सामाजिक दर्जा सबका बराबर होने में ही कल्याण है। पर आज तो जाति–संस्कृति का हंगामा मच रहा है, यह तो राजनैतिक दुर्व्यवहार का एक नमूना है। जिये तो जिये नहीं तो संस्कृति की मृत्यु सुनिश्चित है।

भाषिक संकट: भाषा विचारों के आदान–प्रदान का माध्यम ही नहीं, भावनाओं की अभिव्यक्ति और संस्कृति की संरक्षिका भी है। भाषा और संस्कृति का अविच्छिन्न संबंध होता है। मैडलवाल ने ठीक ही लिखा है कि "प्रत्येक संस्कृति का सार तत्व उसकी भाषा में अभिव्यक्ति पा सकता है और पाया करता है।" भाषा न केवल संस्कृति का अविभाज्य अंग है अपितु उसकी कुंजी भी है। भाषा के बिना यदि संस्कृति पंगु है तो संस्कृति के अभाव में भाषा अंधी। यदि भाषा पर कहीं से कोई प्रभाव पडता है तो संस्कृति भी अप्रभावित नहीं रह सकती। किसी देश की संस्कृति आशय मुख्यतया वहाँ के निवासियों के आचार–विचार, रहन–सहन, रीति–रिवाज और जीवन–प्रणाली से है।

भाषिक साम्राज्य के कारण अन्य भाषाओं का विकास अवरूद्व होता है और भाषाई अवरोध के फलस्वरूप उससे संबध्द संस्कृति के लिए भी संकट उत्पन्न हो जाता है, उदाहरण: बेंगलूरु मेट्रो स्टेशन का भाषिक दिशा–निर्देश।

वेश–भूषा और भाव: जो बात भाषा के लिए कही गई है, वही वेश–भूषा के संबंध में भी है। पोशाक के साथ भी संस्कृति का निकट संबंध है। प्रत्येक संस्कृति और धर्म की पोशाक अलग–अलग है। हमारी मान्यता गलत है कि अंग्रेजी पोशाक पहनते ही मन में ऐंठ, अकड, झूठी शान, विलासिता, शेखी के भाव उदय होते हैं। वास्तव में किसी पोशाक, वेश–भूषा आदि के साथ किसी संस्कृति का इतिहास जुडा हुआ रहता है, बिना इतिहास जाने वस्त्र संहिता पर चर्चा नहीं करना चाहिए।

19वीं सदी से पहले केरल में जब ट्रावंकूर राजाओं का अधिकार स्थापित था, उस समय में जातिमूलक वस्त्रसंहिता का पालन होता था। उसे 'ब्रेस्ट ट्याक्स सिस्टम' कहते थे। नंगेली नामक स्त्री ने इसका विरोध कर अपना स्तन काटकर केले के पत्तों में समेटे करचूँगी के हाथ में रखकर वह मर गई। उसकी मृत्यु ने क्रांति मचाई थी। ऐसी बे–इज्जती इस देश में किसी का न हो।

डपसंहार या निष्कर्श: भारतीय संस्कृति में हम व्यापक मानव–समाज के महत्वपूर्ण घटक हैं और दोनों हैं परस्पर सम्बध्द एवं एक दूसरे के संपूरक और संयोजक। विज्ञान की जो उन्नति पश्चिम में हुई, उसने मानव की संहारक शक्ति को सजग किया और इस प्रकार विज्ञान के प्रति अनास्था प्रकट हुई। बुध्दिवाद इसके नियंत्रण में असफल रहा; क्यों कि मानसिक उन्नति, बौध्दिक संस्कृति भौतिक विकास की समचरण नहीं रही। हमारी कठिनाई का कारण वैज्ञानिक उन्नति नहीं, बल्कि मनुष्य के सांस्कृतिक विकास का विनाश है। जिस क्षण दोनों में सामंजस्य और संतुलन घटित होगा, वह क्षण मानवीय चेतना के इतिहास का भव्य अभिचरण होगा। धर्म, दर्शन, नीति–चेतना, कला–संस्कार, सभ्यता और संस्कृति अविभाज्य इकाई होंगे और इन्हें समीकृत करने के लिए संयोजन का प्रयास अनिवार्य नहीं रहेगा। भूत, वर्तमान और भविष्य विच्छिन्न न होंगे, बल्कि होंगे एक ही भित्ति के पटाधार, भव्य और विराट। हम इस भव्यता के दर्शन के आकांक्षी हैं, मानवता के विकास के प्रति आस्थावान। इस दृष्टि में कबीर का कहना समीचीन है

वेद–खुरान को कहे क्यों झूठा,
झूठा जो न विचारै.....!!?

सहायक

1. भारतीय संस्कृति और सांस्कृतिक चेतनारू डॉ. रामखेलावन पाण्डेय, राधाकृष्ण प्रकाशन।
2. भारतीय संस्कृति–एक जीवन दर्शन: पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट प्रकाशन।
3. http://sahityapedia-com/भारतीय–संस्कृत्र ति–की–विशेष–78005/
4. http://bharatdiscovery.org/india/भारतीय–संस्कृ ति–की–विशेषताएँ
5. hwww.httphttphttp://feminisminindia. com/20146/0912/kerala–breast–tax– nangeli/
6. http://en.wikipedia.org/wiki/nangeli